ISSN: 2393-8900 IMPACT FACTOR : 2.7825(UIF) VOLUME - 7 | ISSUE - 4 | DEC - 2020

HISTORICITY RESEARCH JOURNAL

नयी सदी की कविता में साम्प्रदायिकता

डॉ. गफार सिकंदर मोमीन

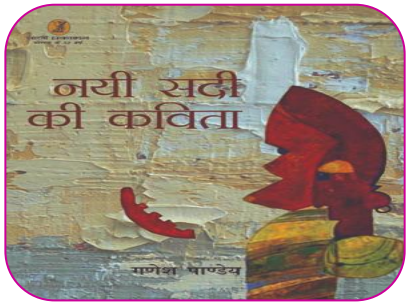

प्रस्तावना :-

बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में जो अभूतपूर्व साम्यतिक परिवर्तन हुए उनके चलते मानवीय संवेदना के क्षरण की प्रक्रिया में भी तीव्रता आई। सोवियत संघ का विघटन, शीतयुद्ध की समाप्ति और एक ध्रुवीय विश्व के नव–अधिनायकवाद की स्थापना, वित्तीय पूंजी की एकछत्र और निर्बाध प्रभुता, आर्थिक क्षेत्र में ढाँचागत सुधार की अनिवार्यता के चलते उदारीकरण और निजीकरण के नए मॉडल को अपनाने की विवशता, पूँजी और संस्कृति का वैश्वीकरण, संचार तकनीकी के क्षेत्र में अपूर्व क्रांति, विश्व बाजार और अर्थव्यवस्था के एकीकरण की विवशता ये तमाम प्रक्रियाएँ इन्हीं दशकों में समूची दुनिया में सामाजिक विकास के बुनियादी ढाँचे को प्रभावित करने की स्थिति में आई। संचार क्रांति ने ग्लोबल गाँव बनाया और वित्तीय पूँजी ने नयी आर्थिक प्रणाली के जरिए उसे बाजार के रूप में तब्दील कर दिया। राष्ट्र–राज्य की ज्ञानोदयी अवधारणा ध्वस्त हो गई। राजसत्ता अब सीमांत में चली गई, और उससे जुड़ी, लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा भी अप्रासंगिक करार दी गई। पूँजी की चाकरी करने पर अब राजसत्ता भी विवश थी। इस तरह बीसवीं सदी के अंतिम दशकों को विश्व इतिहास में पूँजी के असंदिग्ध वैश्विक वर्चस्व की शुरूआत के समय के रूप में याद किया जायेगा। इस दौर का सबसे महत्वपूर्ण राजनैतिक परिवर्तन था, शीत युद्ध की समाप्ति।

इस बदलाव का असर हिन्दी कविता की राजनैतिक संवेदना पर भी दिखाई देता है। अस्सी के दशक में राजनैतिक वक्तव्य में ढल जाने की, स्वघोषित अनिवार्यता से पिण्ड छुड़ाकर अपने परिवेश और आसपास की दुनिया को ही कविता का विषय बनाया गया। प्रकट रूप में अराजनैतिक दिखने की कोशिश के बावजूद कविकर्म का एक अप्रकट राजनैतिक परिप्रेक्ष्य अवश्य था। अनेक कवि समाजवादी दर्शन से प्रेरित हुए थे और उनकी कविताओं का आशावादी स्वर कमोवेश समाजवादी युरोपिया का ठीक उसी तरह आवाहन करता था, जैसे कि शीत युद्ध के शुरू–शुरू के दौर में मुक्तिबोध ने किया था –

''संकल्पधर्मा चेतना का रक्त प्लावित स्वर
हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर
प्रकट होकर विकट हो जायेगा।''[१]

केदारनाथ सिंह जैसे बिन आग्रही कवि को खुलकर कहना पड़ रहा था–

''यह जानते हुए लिखने से कुछ नहीं होगा
मैं लिखना चाहता हूँ।''[२]

यह आशावाद राजनीतिक संवेदना को काव्यसंवेदना की बुनावट में अभिन्न रूप से संयोजित कर लिए जाने के कवि कौशल का ही परिणाम था। यह एक नई युक्ति थी, जो राजनीति मात्र का विरोध करने वाली विद्रोही कविता के बड़बोलेपन से बचकर चल रही थी, तो दूसरी ओर दक्षिणपंथी या साम्राज्यवादी राजनीति की खुली मुखालिफत करने वाली वाम कविता की अतिशय वाचालता से भी अपने को मुक्त रखने के लिए प्रयासरत थी। सामाजिक अन्तर्विरोध को राजनीति की भाषा में व्यक्त करने के बजाय वह राजनीति को सामाजिक अंतर्विरोध की दृश्यावली के माध्यम से व्यक्त कर रही थी। उस दौर के काव्यात्मक आशावाद का यह राजनैतिक परिप्रेक्ष्य है, जिससे ऊर्जा ग्रहण कर कविता ने विद्रोह की नि:संग मुद्रा त्याग कर जनसंघर्षों से संबद्धता का साहस जुटाया था। यह अकारण नहीं कि पक्षधरता का नैतिक विवेक इस कविता का बुनियादी चारित्रिक लक्ष्य है।

साम्राज्यवादी ताकतों की अनुपस्थिति के चलते जो असहायता और विवशता की स्थितियाँ निर्मित हुई, दरअसल वे ही आगे की प्रतिवादी राजनीति का परिप्रेक्ष्य बनीं। इस सच्चाई को पहचानने की कोशिश शायद नई सदी की कविता ही बेहतर ढंग से कर सकी है। यद्यपि इस कोशिश में उसने अपने समय की रिपोर्ताज में अपघटित होने का जोखिम भी उठाया है। इस कविता में राजनैतिक समय को स्वायत्त करने के प्रयत्न में जो प्रमुख अभिलक्षण विकसित हुए हैं उन पर भी ध्यान दिये जाने की जरूरत है। पिछले दौर की कविता का प्रमुख राजनीतिक एजेण्डा साम्राज्यवाद का विरोध ही था। मदन कश्यप की एक कविता 'भेड़िया' इस स्थिति का ही खुलासा करती है। इसमें समकालीन जीवन में मनुष्यता के ऊपर मँडराते संकट को भेडिये के प्रतीक के रूप में संकेतित किया गया है। बदले हुए समय और उसके यथार्थ के समक्ष आज के कवि की विवशता को भी यह कविता सफाई से इंगित करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि साम्राज्यवाद से मुक्ति का राजनैतिक मुद्दा कविता की सतह पर चमकता दिखाई नहीं देता, लेकिन अनेक कवि इधर यदि उन जीवन–प्रक्रियाओं की पहचान के लिए प्रयत्नशील दिखाई देते हैं, जो साम्राज्यवाद के नए रूप में उभार के बाद प्रारंभ हुई है। शायद इस स्थिति को ही लक्ष्य कर कवि राजेश जोशी ने कहा है कि – ''हमारे समय में व्यवस्था विरोध का स्वर कुछ अधिक बौद्धिक है, लेकिन वह पक्ष लेने से कतराता है और गुस्सा होने से परहेज करता है। कभी–कभी तो यह भी लगता है कि व्यवस्था विरोध खुद व्यवस्था को भी सुटेबल लगता है।''[३] आलोचक नन्दकिशोर नवल का भी मानना है कि – ''इधर की कविता में विचारधारा का आग्रह कम हुआ है।''[४]

यह सच है कि प्रतिबद्धता और विचारधारा का आग्रह में कमी की वजह से ही कविता को साम्प्रदायिक भंगिमा मिली। किन्तु इससे यह सुविधा भी मिली कि सामाजिक यथार्थ के विवरणों के बहाव में प्रतिवाद की राजनीति को विसर्जित भी किया जा सके। दो शताब्दियों के संधिकाल के आसपास अगर कविता में विवरणधर्मिता विकसित हो सकी है, तो इसके लिए स्वयं यथार्थ की खास रणनीति भी उत्तरदायी है, जो प्रतिरोध को प्रभावहीन बनाने के लिए नाना रूप धरती है। १९८० के बाद के नवप्रगतिवादी दौर में भी वर्गापसरण की समस्या पर चर्चाएँ होती थीं। कविता से भी उसका साक्ष्य देने की अपेक्षा की जाती थी, किन्तु उत्तर सोवियत दौर में यह प्रश्न भी नेपथ्य में चला गया।

दरअसल नव प्रगतिवाद के दौर में घर, परिवार, प्रकृति और जातीय परंपराओं के स्वकेन्द्रित वृत्त में जो काव्यबोध फल–फूल रहा है, वह पिछली सदी के अंतिम दशक में पहुँचकर लोक राग की कविता में अपने को संयोजित कर एक आकार ले चुका था। इस कविता में वर्ग बोध ने किस तरह से लोक संवेदना में अपने को ढाल लिया, यह पता ही न चला। यहाँ वर्गीय चेतना अनुपस्थित नहीं थी, तो अत्यंत क्षीण हो चली थी, उसकी जगह लोक चेतना विराजमान थी। लोक संवेदना में राजनीतिक, साम्प्रदायिक संदर्भों का यह अन्तर्विलय इस कविता के ऐन्द्रिक, सौन्दर्यात्मक और स्मृतिमूल्य चरित्र के अनुकूल था। केदारनाथ सिंह, विनोद कुमार शुक्ल, विजेन्द्र, ज्ञानेन्द्रपति, अरूण कमल, एकांत श्रीवास्तव, स्वप्निल श्रीवास्तव, नियल उपाध्याय, कुमार अंबुज, अनामिका, बदरीनारायण, उदयप्रकाश, अरूण शीत्रांशु आदि अनेक

कवियों का लोकराग नि:संदेह राजनीतिक संवेदना को अपने भीतर आत्मसात किए हुए है, मगर उसकी निर्मिति राजनैतिक चेतना के विकल्प की तरह जान पड़ती है।

हिन्दी कविता स्वभावत: साम्प्रदायिक राजनीति के विरोध में ही मुखर हुई? वैसे तो इस विषय पर पहले के दशकों में भी कवियों का ध्यान गया था और लगातार सम्प्रदायवाद का काव्य प्रतिवाद सक्रिय था, लेकिन गुजरात की नरहिंसा ने जब साम्प्रदायिकता के फासीवादी चेहरे को बेनकाब कर दिया, तो काव्य जगत में इसकी त्वरित प्रतिक्रिया हुई। सन् २००२ के बाद की शायद ही कोई हिन्दी पत्रिका हो, जिसमें साम्प्रदायिक फासीवाद का प्रतिवाद न किया गया हो। सैकड़ों कविताएँ इन पत्रिकाओं में छपी। कुछ पत्रिकाओं ने साम्प्रदायिकता विरोधी कविताओं को संकलित भी किया। आज यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि १९९२ बाबरी मस्जिद काण्ड घटित होने के बाद से साम्प्रदायिक राजनीति की लगातार कामयाबी के चलते भारतीय समाज साम्प्रदायिक विखंडन की मानसिकता के करीब पहुँच गया है। हिन्दी क्षेत्र में लड़ी जा रही इस क्रुसित लड़ाई की लपटें भले ही गुजरात में दिखाई दी हों, समूचा देश भी उसकी लौ से कभी भी झुलस सकता है। इसलिए उसका सशक्त प्रतिरोध किया जाना चाहिए। गुजरात इतना भयावह था कि हिन्दी कविता ने उसके अनुभव के पकने के बाद कागज पर उतरने की प्रतिक्षा किए बगैर लगभग पत्रकारिता जैसी तात्कालिकता के साथ प्रतिक्रिया प्रकट की। यहाँ तक की चर्चित कवयित्री कात्यायनी की टिप्पणी थी कि — 'इस समय और इस मसले पर, शिल्प और कला पर अतिरिक्त ध्यान देना अश्लील और घटिया बात लगती है।'

संजय चतुर्वेदी, देवीप्रसाद मिश्र, अष्टभुजा शुक्ल, संजय कुंदन, चंद्रभूषण, आर. चेतनकांति, सुन्दरचंद ठाकुर अनेक कवियों ने फासीवाद के इस नए रूपान्तर को ही साम्प्रदायिक काव्य का विषय बनाया। संजय चतुर्वेदी भी साम्प्रदायिकता को आत्मसीमित विमर्श और उसके बौद्धिक प्रतिवाद को अपर्याप्त बताते हुए लगभग कात्यायनी जैसी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। यह सहज ही देखा जा सकता है कि प्रतिबद्धता और वर्गीय पक्षधरता की क्षीणप्राय चेतना के बावजूद हिन्दी की समकालीन कविता साम्प्रदायिकता को लेकर अपने राजनैतिक दृष्टिकोण में बिल्कुल स्पष्ट और मुखर रही है। अपने मूलत: मध्यवर्गीय जीवन बोध के बावजूद यह धर्म निरपेक्ष शक्तियों की पक्षधर दिखाई देती है। वह एक निर्भीक और स्पष्ट प्रति राजनीति विकसित कर मानवीय गरिमा के प्रश्न को उससे जोड़ती है और इस तरह कवि कर्म की अर्थवत्ता अर्जित करती है। हिन्दी के अनेक कवि अपने इर्द गिर्द की दुनिया में बनती—बिगड़ती सच्चाईयों के इसी रूप में देखने का जतन करते हैं। मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, अरूण कमल, ज्ञानेन्द्र पति, पंकज सिंह, मनमोहन, राजेन्द्र शर्मा, आलोक धन्या, उदय प्रकाश, विजयकुमार आदि वरिष्ठ कवियों से लेकर स्वप्निल श्रीवास्तव, कुमार अम्बुज, नवल शुक्ल, देवीप्रसाद मिश्र, संजय चतुर्वेदी, अष्टभुजा शुक्ल, निर्मला गर्ग, अनामिका, बद्रीनारायण, नीलेश रघुवंशी, एकांत श्रीवास्तव, निलय उपाध्याय, भरत प्रसाद, आशुतोष दुबे, हेमंत कुकरेती, संजय कुंदन, प्रेमरंजन अनिमेष, आदि तथा बिल्कुल नए कवियों में कुमार बीरेन्द्र, हरेप्रकाश उपाध्याय, रवीन्द्र, स्वप्निल प्रजापति आदि के यहाँ उत्तर पूँजी के उत्पातों के बहुविध साक्ष्य के रूप में कविता का यथार्थ प्रतिफलित हुआ है। इन कवियों के अनुभव की दुनिया अपने समूचे रोजमर्रापन के बावजूद अंतत: सामाजिक यथार्थ के उन प्रारूपों से निर्मित हुई, जिन्हें देश में उदारीकरण के अर्थशास्त्र ने पिछले डेढ़—दो दशक में निर्मित किया है। हिन्दी कवियों ने वैश्वीकरण के सामाजिक प्रतिफलन का आख्यान रचा है। इसलिए नए यथार्थ की धमक जहाँ भी पहुँची है, कविता वहाँ तक गई है। गुजरात का नरसंहार हो या नंदिग्राम की हिंसा, आज की कविता उसकी पृष्ठभूमि में सक्रिय पूँजी की नृशंस लीला को देखने की चेष्टा करती है। नयी सदी की शुरूआत के साथ ही ज्ञानेन्द्र पति का कविता संग्रह 'गंगातट' प्रकाशित हुआ। नए यथार्थ को समझने की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण संग्रह है, जो आज की कविता की राजनीति और उसके जीवन परिप्रेक्ष्य की भी सटीक व्याख्या करता है। ज्ञानेन्द्र पति के काव्य बोध में इस तरह के संकट की अचूक पहचान है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि नई सदी में कविता की राजनैतिक संवेदना में आई यह तबदीली उसके सौन्दर्यशास्त्र, इधर हुए बदलाव से अभिन्न नहीं है। जनजीवन से कविता ज्यों—ज्यों संपृक्त होती गई, सौंदर्य की जगह संघर्ष की प्रतिष्ठा हुई। नई सदी में सौन्दर्य और संघर्ष दोनों का काव्य मूल्य चुक गया जान पड़ता है। आज ज्यादातर कविता एक खास तरह की बौद्धिक उत्तेजना पैदा करने की

कोशिश में लिखी जा रही है। यही वजह है कि उसे पक्षधर—प्रतिबद्ध राजनैतिक चेतना की कमी खलती नहीं। वैश्वीकरण के विरोध का झण्डा उठाये रखकर वह स्पष्ट राजनैतिक प्रतिबद्धता के जोखिम से बचने का रास्ता भी ढूँढ ही लेती है।

संदर्भ ग्रंथ

१ मुक्तिबोध, भूलगलती प्रतिनिधि कविताएँ, संपा. अशोक बाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, पृ. १५४
२ केदारनाथ सिंह, जमीन पक रही है, प्रकाशन संस्थान, पृ. ६६
३ विनय कुमार, राजेश जोशी का साक्षात्कार, पहला अंक — ६१, पृ. ८६
४ विनय कुमार, राजेश जोशी का साक्षात्कार, पहला अंक — ६१, पृ. ८६